कुरु कृपां करुणाकर ! केवलं, क्षिप विदीश!विदं मयि के बलम्।
तनुचितोः प्रविधाय विभाजनं, निजमये यदरं सुखभाजनम्।।

हे करुणाकर ! विदीश ! केवलं कृपां कुरु मयि विदम् क्षिप, के (आत्मनि) बलं क्षिप ।
यत् (यस्मात्) तनुचितोः विभाजनम् प्रविधाय सुखभाजनम् निजम् अरम् अये।

हे ईश धीश मुझमें बल बोधि डालो !
कारुण्य धाम करुणा मुझमें दिखा लो।
देहात्म में बस विभाजन तो करूँगा,
शीघ्रातिशीघ्र सुख भाजन तो बनूँगा।।५०।।

अर्थ– हे दयाकर। हे ज्ञानेश्वर ! मुझ पर कृपा करो, मुझमें ज्ञान डालों और मेरी आत्मा में बल स्थापित करो। जिससे मैं शरीर और आत्मा का विभागकर सुख के पात्रस्वरूप निज आत्मा को शीघ्र प्राप्त हो जाऊँ।।५०।।

समयशामितरागविभावसुरुपगतः स्वयमेव विभावसु।
मयि तथापि सरागतमालये, वससि देव कथं नियमालये।।

हे देव ! समयशामितरागविभावसुः (अरिः) स्वयम् एव विभावसु (बोधधनं) उपगतः
(अरिः) तथापि मयि सरागतमालये नियमालये कथं वससि?

विज्ञान से शमित की रति की निशा है,
पाया प्रकाश तुमने निज की दशा है।
तो भी निवास करते मुझमें विरागी!
आलोक धाम तुम हो, तम मैं, सरागी।।५१।।

अर्थ – हे देव ! यद्यपि आप विज्ञान से रागरूपी अग्नि तथा निशा को नष्ट करने वाले हैं और आप स्वयं ही विभारूपी धन को प्राप्त हुए हैं, तथापि रागरूपी अंधकार के घर तथा नियमों के स्थानभूत मुझमें क्यों निवास कर रहे हैं। तात्पर्य यह है कि मैं सराग एवं अज्ञानी होता हुआ भी आपका ध्यान करता हूँ।।५१।।

समयते निखिलं व्यवहारतः, स्वसमये नियतं भवहा ! रतः।
सहजवृत्तिरियं हि सदा सतां, प्रवहतां जगतां न खदासताम्।।

हे भगवन् ! स्वसमये नियतं रतः भवहा ! (अस्ति) (अतः) निखिलं व्यवहारतः समयते।
सतां हि इयं सहजवृत्तिः सदा (अस्तु) खदासतां प्रवहतां जगतां न (अस्तु)।

शुद्धात्म में तुम सुनिश्चय से बसे हो,
जो जानते जगत को व्यवहार से हो।
होती सदा सहजवृत्ति सुधी जनों की,
इच्छामयी विकृतवृत्ति कुधी जनों की।।५२।।

अर्थ -- हे भवहाः ! संसार का परित्याग करने वाले जिनेन्द्र ! निश्चयनय से आप स्वसमय -- शुद्धात्मस्वरूप में लीन हैं -- उसी को जानते हैं और व्यवहारनय से सबको जानते हैं क्योंकि यह सहजवृत्ति -- स्वाभाविक परिणति साधुजनों की सदा रहती है, इंद्रियों की दासता को धारण करने वाले -- असाधुजनों की नहीं रहती।।५२।।

नहि जगज्जिन पश्यसि वस्तुतः, सततमात्मपदं तु भवस्तुतः।
त्वदुपयोगतले शुचिदर्शनेऽवतरतीव तदेव तु दर्शने।।

हे जिन ! भवस्तुतः वस्तुतः सततं आत्मपदं पश्यसि नहि जगत् तु (पश्यसि) (यतः)
शुचिदर्शने त्वदुपयोगतले दर्शने इव तदेव तु (जगत् एव) अवतरति !।

संसार को निरखते न यथार्थ में हैं,
लो आप केवल निजीय पदार्थ में हैं।
संसार ही झलकता दृग में तथा हैं,
नाना पदार्थ दल दर्पण में यथा हैं।।५३।।

अर्थ -- हे जिन ! संसार -- सभीजनों के द्वारा स्तुत आप यथार्थ से निरंतर आत्मपद--स्वरूप को देखते हैं--जानते हैं जगत् को नहीं। वही जगत् निर्मल दर्शन वाले आपके उपयोगतल में -- केवलज्ञान में दर्पण की तरह प्रतिफलित होता है।।५३।।

समयसारत ईश! न सारतः, सविकलो विषयाज्जाडसारतः।
जगति मक्षिकयैव सदादृतं, मलमलं भ्रमरेण सदादृत !।।

हे सदादृत ! हे ईश ! सारतः समयसारतः न सविकलः (किन्तु) विषयात् जडसारतः (सविकलः) असि (उचितमेव) जगति सदा मक्षिकया एव मलं आदृतम् भ्रमरेण अलम् (तिरस्कृतमित्यर्थः)।।

स्वादी तुम्हीं समयसार स्वसम्पदा के,
आदी कुधी सम नहीं जड़ सम्पदा के।
औचित्य है भ्रमर जीवन उच्च जीता,
मक्खी समा मल न, पुष्प पराग पीता।।५४।।

अर्थ – हे सत्पुरुषों से सन्मानित ! हे ईश ! आप श्रेष्ठतम समयसार – शुद्धात्मस्वरूप से रहित नहीं हो – परिपूर्ण हो, किंतु अचेतनों में प्रधानभूत पञ्चेद्रियों के विषयों से रहित हो। ठीक ही है, संसार में मल–विष्ठा मक्खी के द्वारा ही सदा आदृत होता है, भ्रमर के द्वारा नहीं।

प्रवचनेऽचिति साऽ प्रतिमानता, ननु मतात्र सता शुचिमानता।
तव विदं हि हठाद्यदसंग ! ताः, समयकाः स्वयमीश्वर ! संगताः।।

हे असंग ! ईश्वर ! अत्र तव अचिति प्रवचने सा अप्रतिमानता शुचिमानता ननु साता मता यत् (यस्मात्) (तत्र अयं हेतुः) तव विदम् हि ताः समयकाः हठात् स्वयं संगता।

है वस्तुतः जड़ अचेतन ही तुम्हारी,
वाणी तथापि जग पूज्य प्रमाण प्यारी।
है एक हेतु इसमें तुमने निहारा,
विज्ञान के बल अलोक त्रिलोक सारा।।५५।।

अर्थ – हे निर्ग्रन्थ ! हे नाथ ! यहाँ आपकी अचेतन वाणी में निश्चय से जो प्रसिद्ध अनुपमता सत्पुरुषों ने स्वीकृत की है तथा निर्मलता को प्राप्त है, उसमें कारण यह है कि जगत् के समस्त पदार्थ आपके ज्ञान में हठपूर्वक स्वयं प्राप्त हुए हैं।

ननु दृगादिभिरात्मबलैः सुखं, करणजं ह्यपि तत्समलैः सुखम्।
जगति तन्तुभिरेव सुनिर्मितम्, पटमितीह जगाद मुनिर्मितम्।।

हे लोकेश ! आत्मबलैः दृगादिभिः ननु सुखं समलैः (दृगादिभिः) तत् करणजं सुखं अपि (भवतु) इह जगति तन्तुभिः एव पटम् सुनिर्मितम् इति मितम् मुनिः जगाद।

सम्यक्त्व आदिक निजी बल मोक्षदाता,
वे ही अपूर्ण जब लौ सुर सौख्यधाता।
औचित्य वस्त्र बनता निज तन्तुओं से,
ऐसा कहा कि तुमने मित सत् पदों से।।५६।।

अर्थ – हे लोकेश ! निश्चय से जो आत्मोत्थ सुख है वह सम्यग्दर्शनादि आत्मशक्तियों से प्राप्त होता है। और जो इन्द्रियजन्यसुख है वह भी समल--सातिचार--अपूर्ण सम्यग्दर्शनादि आत्मशक्तियों से प्राप्त होता है। उचित ही है, इस जगत् में जो वस्त्र है वह ततुओं से ही निर्मित होता है, ऐसा संक्षेप में आप मुनि ने कहा था।।५६।।

नयति विस्मरणं सुखयाचना-मजनुतौ विरतो दयया च ना।
मणिमयं जलधाववगाहितः, किमिह याचत ए खनगाहित ! ।।५७।।

ए खनगाहित ! अजनुतौदय या च विरतः ना सुखयाचनां विस्मरणं नयति।
(उचितमेव) इह जलधौ अवगाहितः अयं (जनः) किं मणिम् याचते? (कदापि नेत्यर्थः)।

होता विलीन भवदीय उपासना में,
तो भूलता सहज ही सुख याचना मैं।
जो डूबता जलधि में मणि ढूँढ लाने,
क्या मांगता जलधि से मणि दे ! सयाने !।।५७।।

अर्थ – हे इन्द्रियसुख रो विमुख ! भगवन् ! भगवत्स्तुति और दया से विमुख रहने वाला मनुष्य सुखयाचना को भूल जाता है। ठीक ही है -- समुद्र में गोता न लगाने वाला यह मनुष्य संसार में क्या मणि की याचना करता है? अर्थात् नहीं करता।।५७।।

स्ववपुषा प्रथमं पृथगम्बर-मज समुज्झ्य चिता च दिगंबरः।
यवमलं न तृणं ननु पाचकः, कलयति प्रथमं स्वकपाश्च क!।।

हे स्वकपाः! अज ! क ! प्रथमं पृथक् अम्बरं समुज्झ्य स्ववपुषा दिगम्बरः (जातः) च (पुनः) चिता (दिगम्बरः जातः) (उचितमेव) ननु पाचकः प्रथमं तृणं कलयति नच यवमलम् (यवमलं तु पश्चात् कलयति।)

औचित्य! है प्रथम अम्बर को हटाया,
पश्चात् दिगम्बर विभो! मन को बनाया।
रे! धान का प्रथम तो छिलका उतारो,
लाली उतार, फिर भात पका, उड़ालो।।५८।।

अर्थ – हे आत्मरक्षक ! हे जन्मरहित ! हे ब्रह्मन् ! आप पहले वस्त्र को छोड़कर स्वशरीर से दिगम्बर हुए थे। पश्चात् चेतना से दिगम्बर हुये थे। यह उचित ही है, क्योंकि रसोई बनाने वाला पहले तुषरूप तृण को बीनता है पश्चात् जौ के मल–ललाई आदि को ग्रहणकर दूर हटाता है।।५८।।

य उपधि र्जगता समुपासितः, मृतिभयं न विनामृतपाः शित !
अभयताप्तय एव समुद्यतो, भवदुपासनया द्रुतमुद्यतः।।

हे अमृतपाः ! शित ! यः उपधिः जगता समुपासितः (स) मृतिभयं विना न (अतः) एषः (मुनिः) अभयताप्तये भवदुपासनया समुद्यतः यतःद्रुतम् उत् (स्यात्)।

शंका न मृत्यु भय ने सबको हराया,
संसार ने तब परिग्रह को सजाया।
हे सेव्य ! हे अभय ! सेवक मैं विरागी,
मैं भी बनूँ अभय जो सब ग्रन्थत्यागी।।५९।।

अर्थ – हे अमृतपाः ! मोक्ष अथवा प्रियवस्तु के रक्षक ! हे शित ! हे शांत ! जो परिग्रह जगत् के द्वारा सेवित है, वह मृत्यु के भय के बिना नहीं अर्थात् मृत्यु से बचने के लिये ही जगत् परिग्रह को उपार्जित, संचित और सुरक्षित रखता है। इसीलिये यह मुनि अभयता– निर्भयता की प्राप्ति के लिये आपकी उपासना में समुद्यत है। इसी से वह शीघ्र ऊर्ध्वगामी – सिद्ध हो जाता है।।५९।।

जड़तनोर्मदरागनिराकृतिर्जगति शान्तिरिहास्ति निराकृतिः।
परिगमस्तव शान्त! सुमुद्रया, समनुजायत एव सुमुद्रया।।

हे शान्त ! इह जगति निराकृतिः शान्तिः जडतनोः मदरागनिराकृतिः (एव) अस्ति (इति) तव शान्त सुमुद्रया परिगमः समनुजायते एव!

जो देह नेह मद को तजना कहाता!
स्वामी ! अतीन्द्रिय वही सुख है सुहाता।
तेरे सुशान्त मुख को लख हो रहा है,
ऐसा विबोध, मन का मल धो रहा है।।६०।।

अर्थ – हे शान्त ! हे लोकोत्तरशान्तिसम्पन्न ! इस जगत् में जो आभ्यान्तर – अतीन्द्रिय शान्ति है वह जडशरीर संबंधी अहंकार–ममकार का निराकरण –परित्याग ही है, ऐसा सुबोध आपकी प्रमोददायिनी सुन्दर आकृति से होता है।।६०।।

नहि गभीर इहेदुनियोगतः, स जलधिस्स्खलितो निजयोगतः।
असि गभीरतमो निजधाम न, त्यजसि यत् सुखदं च मुधाऽमनः।।

हे अमनः ! इह (जगति) स जलधिः इन्दुनियोगतः निजयोगतः स्खलितः (अतः) न हि गभीरः (अस्ति किन्तु) (त्वं) सुखदं निजधाम च मुधा न त्यजसि यत् गभीरतमः (असि)।

गंभीर सागर नहीं शशि दर्श पाता,
गांभीर्य त्याग तट बाहर भाग आता।
गंभीर आप रहते निज में इसी से,
होते प्रभावित नहीं जग में किसी से।।६१।।

अर्थ – हे अमन ! हे भावमन से रहित ! इस जगत् में वह समुद्र चन्द्रमा के संयोग से स्वकीय गांभीर्य से विचलित हो जाता है। अर्थात् चन्द्रमा के दर्शन से समुद्र उद्वेलित हो जाता है। अतः वह गंभीर नहीं है किन्तु आप व्यर्थ ही अपने सुखदायकधाम – तेज अथवा स्थान का त्याग नहीं करते, अतः गम्भीरतम हैं।।६१।।

जिगमिषु र्निकटं तव ना विनाः, स नियमेन जडो ननु ना विना।
दृगिह बीजमजा अवनाविना, नहि सतां सुफलेऽमलिना विना।।

हे अजाः ! इनाः ! विनाः ! तव (युस्माकं) निकटं नियमेन विना जिगमिषुः ना ननु स जडः (एव अस्ति) (सत्यमेव) इह अवनौ बीजम् विना सतां अमलिना दृक् सुफले नहि (स्यात्)।

है चाहता अबुध ही तुम पास आना,
धारे बिना नियम संयम शील बाना।
धीमान कौन वह है ! श्रम देख रोये,
चाहे यहाँ सुफल क्या बिन बीज बोये।।६२।।

अर्थ – हे जन्मातीत ! हे नाथ ! हे अतिशयपूज्य जिनदेव ! जो पुरुष व्रतनियमादि के बिना आपके निकट जाना चाहता है, वह निश्चय से जड – अज्ञानी है। उचित ही है – इस पृथिवी में बीज के विना सज्जनों की निर्मलदृष्टि सुन्दरफल पर नहीं हो सकती।। ६२ ।।

त्वयि रुचिं च विना शिवराधनम्, भवतु केवलमात्मविराधनम्।
नगविदारणवत् शिरसा यते!, मतमिदं जगतां स्वरसायते।।

हे यते ! त्वयि रुचिं बिना शिवराधनम् केवलम् आत्मविराधनम् शिरसा नगविदारणवत् भवतु ! इति ते इदम् मतम् (यत्) जगताम् स्वरसाय (अरतु)।

शुद्धात्म में रुचि बिना शिवसाधना है,
रे निर्विवाद यह आत्मविराधना है।
हो आत्मघात शिर से गिरि फोड़ने से,
तेरा यही मत इसे सुख मानने से।।६३।।

अर्थ – हे यतिराज ! आप से प्रीति अथवा श्रद्धा के विना मोक्ष की आराधना करना – तपश्चरणादि करना शिर से पहाड़ फोड़ने के समान मात्र आत्मविराधना–आत्मघात है। आपका यह मत जगत् के सुख के लिये है।।६३।।

समुदयागत ईश!शुभे विधौ, नहि तथा किल शीतलतां विधौ।
अनुभवामि यथा तव सन्निधौ, ह्यतुलवैभवपूरितसन्निधौ।।

हे ईश ! समुदयागते शुभे विधौ विधौ (च) किल तथा शीतलतां न हि
यथा तव हि अतुल वैभवपूरितसन्निधौ सन्निधौ अनुभवामि।

ना आत्म तृप्ति उदयागत पुण्य में है,
वो शांति की लहर ना शशिबिम्ब में है।
जो आपके चरण का कर स्पर्श पाया,
आनन्द ईदृश कहीं अब लौ न पाया।।६४।।

अर्थ – हे ईश ! समुदयागत–पुण्यकर्मोदय से प्राप्त शुभकार्य में और सम्यक् प्रकार से उदित चन्द्रमा में वैसी शीतलता का अनुभव नहीं करता हूं जैसी कि अनुपम वैभव से परिपूर्ण समीचीन निधिस्वरूप आपकी सन्निधि–निकटता में करता हूँ।।६४।।

असि निजानुभवादिसमाधितः, स्खलितवान् भवतो द्रुतमाधितः।
सुधृतिमन्त इतीश ! तदाप्तये, स्वनिरता मुनयोऽपि सदाप्त ! ये।।

हे ईश ! आप्त ! निजानुभवादि समाधितः आधितः भवतः द्रुतं स्खलितवान् इति (मत्वा)
तदाप्तये सुधृतिमंतः ये मुनयः सदा स्वनिरताः सन्ति।

स्वामी! निजानुभवरूप समाधि द्वारा,
पाया, मिटी-भव-भवाब्धि, भवाब्धि पारा।
ये धैर्य धार बुध साधु समाधि साधें,
साधें अतः सहज को निज को अबाधें।।६५।।

अर्थ – हे ईश ! हे आप्त ! आप निजानुभवनरूप समाधि–ध्यान से मानसिक व्यथारूप संसार से निवृत्त हुए हैं, ऐसा मानकर जो उत्तम धैर्य से युक्त मुनि हैं वे भी सदा स्वनिरत–आत्मलीन रहते हैं।।६५।।

विधिनगाशनिरीश ! सुराजते, कुमतकक्षदवो मुनिराज ! ते।
शशिशितं सुखदं शुचिशासनं, भवतु मे सततं सहसासनम्।।

मुनिराज ! ईश ! ते शशिशितम् सुखदम् शुचिशासनम कुमतकक्षदवः
विधिनगाशनिः सुराजते (तत्) मे सततम् सहसा आसनम् (आश्रयं) भवतु !।

है वज्र, कर्म-धरणी-धर को गिराता,
दावा बना कुमत कानन को जलाता।
ऐसा रहा सुखद शासन शुद्ध तेरा,
पाथेय पंथ बन जाय सहाय मेरा।।६६।।

अर्थ – हे ईश ! हे मुनिराज ! चंद्रमा के समान उज्ज्वल आपका सुखदायक निर्मलशासन कर्मरूप पर्वतों के लिये वज्र तथा मिथ्यारूपी वनों के लिये दावानल के समान सुशोभित है, अतः वह निरन्तर मेरा आसन–आधार रहे।।६६।।

जननसागरशोषणभाकरः, तृषितजीवनदोऽसिशुभाकरः।
खझषजाल इतीह सुगी र्यतेः सुमुनिना ह्यमुनाप्यथ गीयते।।

भगवन् ! इह (भुवि) जननसागरशोषणभाकरः शुभाकरः तृषितजीवनदः खझषजालः
असि इति यतेः सुगीः (वर्तते) अथ हि सुमुनिना ह्यमुना अपि गीयते (भगवान्)।

हो तेज भानु भवसागर को सुखाने,
गंगा तुम्हीं तृषित की कुतृषा बुझाने।
हो जाल इंद्रियमयी मछली मिटाने,
मैं भी, तुम्हें सुबुध भी, इस भाँति मानें।।६७।।

अर्थ – हे भगवन् ! इस जगत् में आप संसाररूपी समुद्र को सुखाने के लिये प्रचंड सूर्य हैं। तृष्णारूपी तृषा से पीड़ित मनुष्य को जीवन–संतोष रूपी जल को देने वाले हैं। शुभाकर पुण्य की खान हैं तथा इंद्रियरूपी मछलियों को वश करने के लिये जाल स्वरूप हो। इस तरह आपके विषय में गणधरादि मुनियों की उत्तम वाणी है। अब मुझ मुनि के द्वारा भी यही कहा जाता है।

मम मतिस्स्तवनेऽत्र सरोवरे, किमु तदा विफलो न सरो वरे।
अमृतनीरनिधौ जिन ! निष्क्रिय ! विषकणोऽस्तु तथापि स निष्क्रियः।।

हे जिन ! निष्क्रिय ! (तव) स्तवने वरे सरोवरे (यदा) मम मतिः तदा सरः (कामः)
किमु न विफलः (भवतु?) अमृतनीरनिधौ स विषकणः अस्तु तथापि निष्क्रियः एव।

मेरी मती स्तुति सरोवर में रहेगी,
होगी मदाग्नि मुझमें, रह क्या करेगी।
पीयूष सिन्धु भर में विषबिन्दु क्या है?
अस्तित्व हो पर प्रभाव दबाव क्या है? ।।६८।।

अर्थ – हे जिन ! हे कृतकृत्य ! आपके स्तवनरूप उत्कृष्ट सरोवर में जब मेरी मति रह रही है तब काम क्या निष्फल न रहे? क्योंकि अमृत के सरोवर में विष का कण रहता भले ही हो पर वह निष्क्रिय – प्रभावशून्य ही रहता है।।६८।।

तव मते सति ते विफला मता, लयमयन्ति हठाद्विमला मताः।
लवणवद् अशने च सदाऽमिते, जिन! विदं सहजां सुखदामिते।।

हे जिन ! तव सहजां सुखदां विदं इते अमिते सति मते च अशने लवणवत्(हि)
सदा ते विफलाः मताः लयं अयंति हटात् विमलाःमताः (पूज्याः भवति)।

स्याद्ववादरूप मत मे, मत अन्य खारे,
ज्यों ही मिले मधुर हो बन जाएं प्यारे
मात्रानुसार यदि भोजन में मिलाओ,
खारा भले लवण हो अति स्वाद पाओ।।६९।।

अर्थ – हे जिन ! आपके सहज सुखदायक ज्ञान को प्राप्त अपरिमित प्रशस्त मत में यदि एकान्तवाद के कारण अकार्यकारी अन्य मत–धर्म लीनता को प्राप्त हो जावें तो विशाल भोजन में नमक की तरह वे भी हठात् निर्मल – निर्दोष होकर पूज्य हो जावें।।६९।।

स्तुतिबलं ह्यवलम्ब्य मनोर्भवे, ह्यनुचरामि निजात्मनि नो भवे।
कदपथेऽत्र वयोऽपि सपक्षका इति चरन्ति वदन्ति विपक्षकाः।।

हे जगद्वंद्य ! मनोः स्तुतिबलं अवलम्ब्य भवे निजात्मनि अनुचरामि, नो भवे (अनुचरामि)
अत्र कदपथे सपक्षकाः वयः एव अपि चरंति इति विपक्षकाः वदन्ति !

ले आपकी प्रथम मैं स्तुति का सहारा,
पश्चात् नितांत निज में करता विहारा।
ज्यों बीच बीच निज पंख विहंग फैला,
फैला विहार करता नभ में अकेला।।७०।।

अर्थ – हे जगद्वन्द्य ! निश्चय से आपकी स्तुति के बल का अवलम्बन लेकर मैं कल्याणकारी निज आत्मा में विचरण करता हूँ, संसार में नहीं। ठीक ही है पंखों से सहित पक्षी और एकान्तपक्ष से सहित दुराग्रही मानव भी कुमार्ग में विचरण करते हैं पक्षरहित मनुष्य और पंखरहित पक्षी कुमार्ग में (आकाश में) विचरण नहीं करते हैं ऐसा ज्ञानी जन कहते हैं।।७०।।

यदुदितं वचनं शुचि साधुना, वदति तत् न कुधीरिति साधु ना।
ज्वरमितः सुपयः किमु ना सितां, ह्यनुभवद् भुवि रोगविनाशिताम्।।

हे साधो ! (त्वया) साधुना यत् शुचि वचनम् उदितम् तत् साधु न इति कुधीः ना वदति! (उचितमेव) भुविरोगविनाशितां
सितां अनुभवत् सुपयः ज्वरमितः (ज्वरं गतः) ना किमु (तथा न वदति)।

मिथ्यात्व से भ्रमित चित्त सही नहीं है,
तेरे उसे वचन ये रुचते नहीं हैं
मिश्री मिला पय उसे रुचता कहाँ है ?
जो दीन पीड़ित दुखी ज्वर से अहा ! है।।७१।।

अर्थ – हे साधो ! आप साधु के द्वारा जो निर्दोष वचन कहा गया है, वह ठीक नहीं है, ऐसा अज्ञानी पुरुष कहता है। उचित ही है क्योंकि पृथिवी पर रोग को नष्ट करने वाली मिश्री से युक्त उत्तम दूध को ज्वरसहित मनुष्य वैसा नहीं है, मीठा नहीं है, ऐसा क्या नहीं कहता?।।७१।।

सुकवितां विरचय्य च केवलं, भवतु कोऽपि कविर्गत ! केवलम्।
स्वकवितां तु ततोऽहमशेषतामनुभवामि ममास्तु विशेषता।।

हे केवलं गत ! (तव) केवलम् सुकवितां विरचय्य कः अपि कविः भवतु ! अहंतु ततः अशेषताम् स्वकवितां अनुभवामि (अतः) मम विशेषता (अस्तु)।

लालित्य पूर्ण कविता लिख के तुम्हारी,
होते अनेक कवि हैं कवि नामधारी।
मैं भी सुकाव्य लिख के कवि तो हुआ हूँ,
आश्चर्य तो यह निजानुभवी हुआ हूँ।।७२।।

अर्थ – हे केवलज्ञान से युक्त जिनेन्द्र ! मात्र आपकी कविता रचकर कोई भी कवि हो सकता है। परंतु मैं संपूर्ण रूप से स्वकविता का अनुभव करता हूँ अतः यह मेरी विशेषता है।। ७२ ।।

जिनवरं परिवेत्ति विनिश्चितं, स नितरां हि निजं च मुनिश्चितम्।
किमु न धूम्रविदत्र सदागतेः, सहचरं सहजं च सदागते !।।

हे सदागते ! (यः) जिनवरं परिवेत्ति स मुनिः हि नितराम् निजम् चितम् (परिवेत्ति) (उचितमेव) अत्र (भुवि) यः धूम्रवित् सदागतेः सहचरं च किमु न सहजम् (परिवेत्ति?)।

श्रद्धासमेत तुमको यदि जानता है,
शुद्धात्म को वह अवश्य पिछानता है।
धूवाँ दिखा अनल का अनुमान होता,
है तर्क शास्त्र पढ़ते दृढ़ बोध होता।।७३।।

अर्थ – हे सदागते ! हे शाश्वतिक ज्ञान के धारक ! जो जिनवर–अरहन्तदेव को जानता है वह मुनि निश्चय से अच्छी तरह निज आत्मा को जानता है। ठीक ही है क्योंकि पृथिवी पर जो धुवां का जानकार है वह क्या सहज ही अग्नि को नहीं जानता? अवश्य जानता है।।७३।।

समवधूय विधिं किल शाश्वतमिति पदं प्रगतं सहसा स्वतः।
शरणदं न विहाय ततोऽपरं, विरिव नावमये ह्ययजितापरम्।।

हे अजित ! विधिं समवधूय किल शाश्वतं परम् शरणदम् इतिपदम् सहसा स्वतः
प्रगतं (त्वां) विहाय ततः अपरम् विः इव नहि (अहं) अये।

मोहादि कर्म मल को तुमने मिटाया,
स्वामी स्वकीय पद शाश्वत सौख्य पाया।
लेता सहार मुनि हो अब मैं तुम्हारा,
तोता जहाज तज कुत्र उड़े बिचारा ?।।७४।।

अर्थ – हे अजित ! कर्मरूपी रज को अच्छी तरह उड़ाकर निश्चय से नित्य, श्रेष्ठ और शरणदायक इस आर्हन्त्यपद को स्वकीय पुरुषार्थ से शीघ्र प्राप्त करने वाले आपको छोड़कर, नाव को छोड़ पक्षी के समान मैं अन्य किसी को नहीं प्राप्त होता हूँ। 'मुक्त्वा भवन्तमिह कं शरणं व्रजानि'।। ७४।।

तव नुतेः सुखदश्च भृशं कर, उरसि मे विशतीह नु शंकर !।
दिनकरस्य शिवास्य विभावतः, सदनरंध्र इवाज ! हि भावतः।।

हे अज ! शंकर ! शिव ! तव नुतेः सुखदः करः च भृशम् मे इह उरसि
अस्य विभावतः दिनकरस्य सदनरन्ध्रे (करः) इव हि भावतः विशति।

त्यों आपके स्तवन की किरणावली है,
पाती प्रवेश मुझमें सुखदा भली है।
ज्यों ज्योति पुंज रवि की प्रखरा प्रभाली,
हो रंध्र में सदन के घुसती निराली।।७५।।

अर्थ – हे अज ! हे शांतिविधायक ! हे सुखस्वरूप ! आपकी स्तुति से आपका सुखप्रद श्रद्धान अथवा आपकी स्तुति की किरणावली मेरे इस हृदय में परमार्थ से उस तरह अत्यधिक प्रवेश कर रही है जिस तरह कि प्रभापुंज सूर्य की किरण सच्छिद्र घर में प्रवेश करती है।। ७५।।

सति शिवे हि मनोऽपि नियोजयेत्, मनसिजं सहजं समयो जयेत्।
जगति कारण एव लयं गत, इह नु कार्यमिदं ह्यभयंगत !।।

हे अभयंगत ! सति शिवे (त्वयि) हि मनः नियोजयेत् समयः मनसिजम् सहजम् अपि जयेत्।
इह जगति कारणे लयं गते एव इदम् कार्यमनु (अस्तु) (न कदापि)।

कामारिरूप तुम में मन को लगाता,
है वस्तुतः मुनि मनोभव को मिटाता।
हो जाय नाश जब कारण का तथापि,
क्या कार्य का जनम हो जग में कदापि ?।।७६।।

अर्थ – हे अभय को प्राप्त जिनेन्द्र ! निश्चय से जो मनुष्य आनन्दस्वरूप आप सज्जन में मन को लगाता है वह शुद्धात्मस्वरूपी मनुष्य साथ–साथ उत्पन्न होने वाले भी काम को जीत लेता है। उचित ही है, इस जगत् में कारण के नष्ट होने पर कार्य क्या होता है? अर्थात् नहीं होता।। ७६ ।।

त्वयि रुचे रहिताय न दर्शनं, तव हिताय वृथा तददर्शनम्।
खविकलाय करोतु न दर्पणं, समवलोकनशक्तिमुदर्पणम्।।

हे जिन ! त्वयि रुचेः रहिताय तव दर्शनम् न हिताय (किन्तु) तत् वृथा
अदर्शनम् (एव अस्तु) (उचितमेव) खविकलाय समवलोकनशक्तिमुदर्पणम् न करोतु।

स्वामी तुम्हें न जिसने रुचि से निहारा,
देता उसे न "दृग" दर्शन है तुम्हारा।
जो अन्ध है, विमल दर्पण क्या करेगा,
क्या नेत्र देकर कृतार्थ उसे करेगा?।।७७।।

अर्थ – हे जिन ! जो आपमें प्रीति अथवा श्रद्धा से रहित है उसके लिये आपका दर्शन अथवा शासन हितकारी नहीं होता। उसका दर्शन व्यर्थ है अदर्शन के समान है। यह उचित ही है क्योंकि नेत्रेन्द्रिय से हीन मनुष्य के लिये क्या दर्पण देखने की शक्ति से उत्पन्न होने वाले हर्ष को प्रदान कर सकता है? अर्थात् नहीं।। ७७।।

सुधियि वागमृतं कलुषायते, कुधियि वान्तविमोहविषाय ते।
सलिलदात् स्रवदम्बु नदेऽमृतं, विषधरे ह्यकदे विषकं मृतम्।।

हे वान्तविमोहविष ! अय ! ते वाक् सुधियि अमृतं कुधियि (वाक्) कलुषायते (सत्यमेवैतत्) सलिलदात् स्रवत् अम्बु नदे अमृतम् (भवति) अकदे विषधरे हि मृतम् विषकम् (भवति)।

वाणी सुधा सदृश सज्जन संगती से,
तेरी, बने कलुष दुर्जन संगती से।
औचित्य मेघ जल है गिरता नदी में,
तो स्वाद्य पेय बनता, विष हो अही में।।७८।।

अर्थ – हे वान्तमोहविष ! हे मोहरूपी विष को उगल चुकने वाले जिनेन्द्र ! आपका वचन सुधी जन में अमृत है तो कुधीजन में कलुषता उत्पन्न करता है। ठीक ही है क्योंकि मेघ से झरता – वरसता हुआ पानी नदी में अमृत–जलरूप रहता है और दुःखदायक सर्प में मृत्यु करने वाला विष हो जाता है।। ७८।।

ननु मुनेश्च यथा धृतवृत्ततः, स्रवतिशान्तरसः प्रतिवृत्ततः।
अविरलं त्वदुपासकतोऽमनो, नहि तथा शशिनो मुखतो मनो !।।

हे अमनः ! मनो ! ननु धृतवृत्ततः त्वदुपासकतः (मत्) मुनेः च यथा अविरलम् शान्तरसः स्रवति, प्रतिवृत्त (अस्मात् काव्यतः) (शान्तरसः स्रवति) तथा शशिनः मुखतः नहि स्रवति।

जैसा सुशान्त रस वो मम आत्म से है,
धारा प्रवाह झरता इस काव्य से है।
वैसा कहाँ झर रहा शशि बिम्ब से है,
पूजें तुम्हें तदपि दूर सुवृत्त से है।।७९।।

अर्थ – हे अमनः ! मनो ! हे भावमन से रहित ! जिनदेव ! सम्यक् चारित्र को धारण करने वाले आपके उपासक मुझ मुनि से तथा इस काव्य के प्रत्येक छन्द से जैसा शान्त रस झर रहा है वैसा चन्द्रमा के बिम्ब से नहीं झरता।।७९।।

त्वयि रतो हि शठो भववैभव-, समुपलब्धय ईश्वर वै भव।
कृषिमतः कुरुते विधिहाऽवनौ, सकनकेन हलेन स हा ! वनौ।।

ओ हे अवन ! हे विधिहा ! भव ! ईश्वर ! (इह) अवनौ भववैभवसमुपलब्धये त्वयि रतः वै शठः हि (अस्ति) अतः स सकनकेन हलेन हा ! (असौ) कृषिम् कुरुते।

संसार के विविध वैभव भोग पाने,
पूजें तुम्हें बस कुधी जड़, ना सयाने।
ले स्वर्ण का हल, कृषी करता कराता,
वो मूर्ख ही कृषक है जग में कहाता।।८०।।

अर्थ – ओ हे अवन ! हे रक्षक ! हे विधिहा ! हे कर्मो को नष्ट करने वाले ! हे भव ईश्वर ! प्रशस्त भगवन् ! इस पृथ्वी में जो सांसारिक वैभव प्राप्त करने के लिए आप में लीन हैं–आपकी भक्ति करता है निश्चय से वह शठ है – अज्ञानी है अतः खेद है कि वह स्वर्ण के हल से खेती करता है! लोह के बदले स्वर्ण की अनी से युक्त हल के द्वारा खेत को जोतता है।। ८०।।

अलमजे यमतोऽनियमो हतः, सविकलोऽशनतोपि विमोहतः।
वसनतोपि जितेन्द्रियवामतः, परनतो विरतोऽपि भवामतः।।

ई अज ! जितेंद्रियवामतः वसनतः अलम् भवामतः विरतः (ततः) परनतः अपि (अलम्)।
अजे अनियमः हतः (अतः) यमतः (अलम्) विमोहतः सविकलः (अतः) अशनतः अपि अलम् (अस्तु)

है मोह नष्ट तुममें फिर अन्न से क्या ?
त्यागा असंयम, सुसंयम भार से क्या ?
मारा कुमार तुमने फिर वस्त्र से क्या ?
हैं पूज्य ही बन गये, पर पूज्य से क्या ?।।८१।।

अर्थ – ई अज ! हे जन्मातीत ! यदि अनियम–स्वैराचार छूट गया है तो संयम से क्या? यदि शरीर से मोह छूट गया है तो अन्न से क्या? यदि कामेन्द्रिय को जीत लिया है तो वस्त्र से क्या? यदि संसाररूपी रोग से विरत हो गये हैं तो श्रेष्ठ जिनेन्द्र अथवा अन्य पूज्य से क्या? अर्थात् सब अनावश्यक है।।८१।।

खविषयं विरसं नहि मे मनो, विचरदिच्छति शैवगमे मनो!।
परिविहाय घृतं स सुधीः कदा, जगति तक्रमिदं समधीः कदाः।।

हे कदाः ! मनो !शैवगमे विचरत् मे मनः विररसम् खविषयम् नहि इच्छति ! जगति स सुधीः समधीः कदा धृतम् परिविहाय इदम् तक्रम् (इच्छति)।

मेरा जभी मन बना शिवपंथगामी,
संसार भोग उसको रुचते न स्वामी।
धीमान कौन वह है घृत छोड़ देगा,
क्या ! मान के परम नीरस छाछ लेगा।।८२।।

अर्थ -- हे सुखदायक स्वामी ! मोक्षमार्ग में विचरण करने वाला मेरा मन नीरस इन्द्रिय विषय की इच्छा नहीं करता। उचित ही है कि जगत् में वह कौन समबुद्धि विद्वान् है जो घृत को छोडकर छांछ की इच्छा करता है?।।८२।।

मम मतिः क्षणिका ह्यपि चिन्मयी, तदुदिता न चितो यदतन्मयी।
ननु न वीचिततिः सरसा विना, भवतु वा न सरश्च तया विनाः।।

हे विनाः ! मम क्षणिका अपि चिन्मयी मतिः (अस्तु) तदुदिता (अतः) न चितः यत् (यस्मात्) अतन्मयी (अस्तु) ननु वीचिततिः सरसा विना न भवतु (किन्तु) सरः तया विना भवतु न वा।

मेरी भली विकृति पै मति चेतना है,
चैतन्य से उदित है जिन-देशना है।
कल्लोल के बिन सरोवर तो मिलेगा,
कल्लोल वो बिन सरोवर क्या मिलेगा?।।८३।।

अर्थ – हे विनाः ! हे विशिष्ट नेता ! मेरी क्षणिक बुद्धि भी – क्षायोपशमिकप्रतिभा भी चैतन्यमयी है, क्योंकि वह उसी चैतन्य से उत्पन्न हुई है परन्तु जो चैतन्य है वह क्षायोपशमिक बुद्धि रूप नहीं भी है। जैसे लहरों की संतति तालाब के विना नहीं होती पर तालाब लहरों के विना भी हो सकता है। तात्पर्य यह है कि क्षायोपशमिक बुद्धि तो चैतन्यमयी है परन्तु चैतन्य क्षायोपशमिक बुद्धि रूप होवे भी और नहीं भी होवे।।८३।।

स्तवनतोऽस्तु मितं विधिबंधनं, बहु लयेदित तेऽत्र शिवं धनम्।
द्विगुणितं वसु सद्व्यवसायतः, किमपि नश्यति तत् सहसा यतः।।

शिवं धनम् इत ! अत्र ते स्तवनतः मितम् विधिबन्धनम् अस्तु (किन्तु) बहु लयेत् !
सद्–व्यवसायतः वसु द्विगुणितम् (भवतु) तत् (वसु) किमपि सहसा यतः नश्यति।

लो ! आपके स्तवन से बहु निर्जरा हो,
स्वामी ! तथापि विधिबंधन भी जरा हो।
अच्छी दुकान चलती धन खूब देती,
तो भी किराय कम से कम क्या न लेती ?।।८४।।

अर्थ – हे कल्याणरूप धन को प्राप्त भगवन्! इस जगत् में यद्यपि आपके स्तवन से अल्पकर्मबन्ध होता है तथापि निर्जरा अधिक होती है जैसे कि अच्छे व्यवसाय से धन दूना होता है पर शीघ्र कुछ धन नष्ट भी होता है।। ८४।।

सकलवस्तुगमा तव नासिका, परममानमयी भ्रमनाशिका।
भगवतात्र ततो हि समाहिता, दृगमलाप्यचला च समाहिता।।

हे जिन ! तव परममानमयी सकलवस्तुगमा भ्रमनाशिका नासिका (अस्ति) ततः
अत्र (नासिकायाम्) भगवता अमला, अचला, समा, हिता, च दृक् हि समाहिता।

वो आपकी सकल वस्तुप्रकाशिनी है,
नासा, प्रमाणमय, विभ्रम-नाशिनी है।
नासाग्र पे इसलिए तुम साम्यदृष्टि,
आसीन है सतत शाश्वत शांति सृष्टि।।८५।।

अर्थ – हे भगवन् ! यतश्च आपकी नासा समस्त पदार्थों को जानने वाली, अधिक परिमाण वाली और भ्रम का नाश करने वाली है। इसीलिये आपने निर्मल, निश्चल, माध्यस्थ्यभाव से सहित तथा हित रूप अपनी दृष्टि इस नासा पर लगा रक्खी है।।८५।।

असि गुरुः प्रगुणैश्च समानतः, परमराम इहारममाणतः।
अतिसुखी निजबोधपरागतः, सुपुरुषः प्रकृतावपरागतः।।

हे देव ! प्रगुणैः समानतः गुरुः (असि) इह (निजात्मनि) आसमंतात् रममाणतः आरममाणतः परमरामः (असि)। निजबोधपरागतः अतिसुखी (असि)। प्रकृतौ अपरागतः सुपुरुषः (असि)।

हैं आप नम्र गुरु चूंकि भरे गुणों से,
हैं पूज्य ''राम'' निज में रमते युगों से।
पी, पी, पराग निजबोधन की सुखी हैं,
नीराग हैं, पुरुष हैं, प्रकृती तजी हैं।।८६।।

अर्थ – हे देव ! आप श्रेष्ठ गुणों अथवा श्रेष्ठ गुणवानों से अच्छी तरह नमस्कृत हैं अतः गुरु हैं। इस आत्मस्वभाव में सब ओर से रमण करते हैं अतः राम हैं। आत्मज्ञानरूपी पराग से अत्यन्त सुखी हैं और प्रकृति में राग रहित होने से उत्तम पुरुष हैं।।८६।।

परमवीरक आत्मजयीह त, इति शिवो हृदि लोकजयी हतः।
अणुरसीति ममोरसि तानितः, समयकान् स्वविदा भवतानितः।।

हे वीर ! इह आत्मजयी (अतः) परमवीरकः असि ते हृदि लोकजयी (कामः) हतः इति शिवः (असि) मम उरसि असि इति अणुः असि ! तान् (सकलान्) समयकान् स्वविदा इतः (इति) भवतानितः (विश्वव्यापी) असि।

हो धीर वीर तुम चूँकि निजात्म जेता,
मारा कुमार तुमने ''शिव'' साधु नेता।
सर्वज्ञ हो इसलिए तुम सर्वव्यापी,
बैठे मदीय मन में अणु हो तथापि।।८७।।

अर्थ – हे वीर ! आप आत्मजयी हैं अतः परमवीर हैं। आपके हृदय में लोकविजयी–काम नष्ट हुआ है अतः आप शिव–शंकर अथवा कल्याणरूप हैं। आप मेरे हृदय में आसीन हैं अतः अणुरूप हैं और अपने ज्ञान से समस्त पदार्थों को प्राप्त हैं अतः विश्वव्यापी हैं।।८७।।

नहि सुखे किल दुःखसमागमे, त्वयि मनो रमते मतमागमे।
निशि वरं शशिनो मुखवृत्तकं, भुवि चकोरवये ऽस्त्वित वृत्तकम्।।

वृ ऽत्तकम् इत ! ईश ! सुखे नहि दुःखसमागमे त्वयि मनो रमते (इति) आगमे मतम् (कथिकम्) भुवि चकोरवयेशशिनः मुखवृत्तकम् निशि (एव) वरम् (न दिवसे) अस्तु।

साता नहीं उदय में जब हो असाता,
मैं आपके भजन में बस डूब जाता।
है चन्द्र को निरखता सघनी निशा में,
जैसा चकोर रुचि से न कभी दिवा में।।८८।।

अर्थ – हे वृत्तकमित ! हे चारित्र को प्राप्त भगवन् ! सुख के समय नहीं किन्तु दुःख का समागम होने पर आप में मेरा मन रमता है, ऐसा शास्त्र में माना गया है। यह उचित ही है क्योंकि चकोर पक्षी के लिये चन्द्रमा का मण्डल रात में ही अच्छा लगता है रुचता है, दिन में नहीं।।८८।।

अभयदानविधावसि सद्विधि, र्जगति दर्शितसत्पथसद्विधिः।
भगवता विजितः स्वबलैर्विधि, रिति भवन्तमये मम वै विधिः।।

हे विधे ! जगति दर्शितसत्पथसद्विधिः अभयदानविधौ सद्विधिः असि ! भगवता स्वबलैः विधिः विजितः इति भवन्तम् (अये) (इति) मम वै विधिः।

धाता तुम्हीं अभय दे जग को जिलाते,
नेता तुम्हीं सहज सत्पथ भी दिखाते।
मृत्युंजयी बन गये भगवान् कहाते,
सौभाग्य है, कि मम मन्दिर में सुहाते।।८९।।

अर्थ – हे भगवन् जगत् में आपने सन्मार्ग का समीचीन उपाय दिखाया है अतः आप अभयदान के करने में उत्तम विधि से युक्त हैं – अतिशय निपुण हैं। आपने स्वकीय आत्मबलों से विधि–कर्मकलाप को जीता है इसलिये मैं आपकी शरण में आया हूँ यही मेरी निश्चय से विधि है।।८९।।

तव ललाटतले ललिते ह्यये!, स्थितकचावलिमित्थमहं ह्यये।
सरसि चोल्लसिते कमलेऽमले, सविनयं स्थितिरिष्ट सतामलेः।।

अय सताम् इष्ट ! तव ललिते ललाटतले स्थितकचावलिम् अमले सररि च
उल्लसिते कमले सविनयम् हि अलेः स्थितिः इत्थम् अहं हि अये।

ऐसी मुझे दिख रही तुम भाल पे है,
जो बाल की लटकती लट गाल पे है।
तालाब में कमल पे अलि भा रहा हो,
संगीत ही गुणगुणा कर गा रहा हो।।६०।।

अर्थ – हे साधुजन प्रिय ! आपके सुन्दर ललाटतल पर स्थित केशावली, स्वच्छ तालाब में प्रफुल्ल कमल पर सविनय स्थित भ्रमरावलि है, ऐसा समझता हूँ।।६०।।

शिरसि भाति तथा ह्यमले तरां, कचततिः कुटिला धवलेतरा।
मलयचन्दनशाखिनि विश्रुते, विषधराश्च यथा जिन ! विश्रुते।।

हे विश्रुते ! तव हि अमले शिरसि धवलेतरा कुटिला कचततिः तराम् तथा भाति।
विश्रुते मलयचन्दनशाखिनि विषधराः च यथा (भांति)।

काले घने कुटिल चिक्कण केश प्यारे,
ऐसे मुझे दिख रहे शिर के तुम्हारे।
जैसे कहीं मलयचन्दन वृक्ष से ही,
हो कृष्ण नाग लिपटे अयि दिव्य देही !।।६१।।

अर्थ -- हे विश्रुते ! विशिष्ट श्रुति के धारक ! आपके निर्मल शिर पर कालेकाले घुंघराले बाल उस प्रकार अत्यन्त सुशोगित हो रहे हैं जिस प्रकार कि मलयचन्दन के वृक्ष पर काले–काले सांप सुशोभित होते हैं।।६१।।

ननु नरेशसुखं सुरसम्पदं, ह्यभिलषामि न भुव्यपि सत्पदम्।
जडतनो र्वहनं द्रुतमेत्विति, मज मतिः खरवत् किल मे त्विति।।

अज ! ननु नरेशसुखं सुरसम्पदम् भुवि अपि सत्पदं न अभिलषामि (किन्तु) खरवत् जडतनोःवहनम् द्रुतम् इतिम् एतु। किल इति मे मतिः (अस्ति) तु (पादपूर्तौ)।

चाहूँ न राज सुख मैं सुरसम्पदा भी,
चाहूँ न मान यश देह नहीं कदापि।
हे ईश गर्दभ समा तन भार ढोना,
कैसे मिटे, कब मिटे, मुझको कहो ना।।६२।।

अर्थ--हे अज ! मैं राजसुख, देवविभूति और पृथिवी पर समीचीन पद नहीं चाहता हूँ किन्तु गर्दभ के समान जड़ शरीर का ढोना शीघ्र ही समाप्ति को प्राप्त हो, यही मेरी चाह है।।६२।।

तवलवाश्च तरंति सुभावि मे, परममानमदोऽत्र विभाविमे।
भगवतोस्त्यिति यद् ह्यमितं श्रुतं, सह दृशा मुनिना पठितं श्रुतम्।।

हे भगवन् ! अदः सुभावि परममानम् अत्र विभौ तव इमे लवाः च तरंति इति भगवतः अमितम् श्रुतम् अस्ति यत् (मया) मुनिना दृशा सह हि पठितम् श्रुतम्।

मेरी सुसुप्त उस केवल की दशा में,
ये आपकी सहज तैर रहीं दशायें।
यों आपका कह रहा श्रुत सत्य प्यारा,
मैंने उसे सुन गुणा रुचि संग धारा।।६३।।

अर्थ – हे भगवन् ! यह भावी उत्कृष्ट ज्ञान है और इस व्यापक ज्ञान में आपकी ये समस्त दशाएं तैर रही हैं–प्रतिबिम्बित हो रही हैं, ऐसा भगवान् आपका अपरिमित श्रुत है जो मुझ गुनि ने श्रद्धा के साथ निश्चय से पढा है और सुना है।।६३।।

मयि रतोऽहमतो भवतो रुचि, गतबलस्तु विधिर्भवतोऽरुचिः।
विषधरो विषदन्तविहीनकः, सहचरोऽपि भवन् किमु हीनक।।

हे इन ! क ! भवतः रुचि अहम् रतः अतः भवतः अरुचिः मयि अस्तु (अतः) गतबलः विधिः (अस्तु)। विषदन्तविहीनकः हि विषधरः सहचरः भवन् अपि किमु? (कापि हानिः न)

संसार से विरत हूँ तुम ज्योति में हूं,
निस्तेज कर्म मुझमें जब होश में हूं।
बैठा रहे निकट नाग कराल काला,
टूटा हुआ, कि जिसका विषदन्त भाला।।६४।।

अर्थ–हे स्वामिन् ! आपकी रुचि–श्रद्धा या ज्योति में मैं रत हूँ–लीन हूँ अतः संसार से अरुचि मुझमें हो। सम्प्रति क्षीणशक्ति वाले कर्म मुझमे हैं तो रहें, उनसे हानि नहीं। जैसे विषदन्त से रहित सांप साथ में रहे तो क्या करेगा।।६४।।

किल विदा कमयंति विरागिणस्तदितरद् कुविदा भुवि रागिणः।
शुचिमिते जिन ते भव सन्मते!, समुदितं विशदं त्विति सन्मते।।

हे सन्मते ! भव जिन ! भुवि विरागिणः किल विदा कम् अयंति। रागिणः कुविदा तदितरत् (दुःखम्) (अयन्ति) इति ते सन्मते शुचिम् इते (शुचिमते) विशदम् समुदितम्।

विज्ञान से अति सुखी बुध वीतरागी,
अज्ञान से नित दुखी मद-मत्त, रागी।
ऐसा सदा कह रहा मत आपका है,
धर्मात्म का सहचरी, रिपु पाप का है।।६५।।

अर्थ – हे सद्बुद्धि से विशोभित ! हे प्रशस्तजिन ! पृथिवी पर विरागी मनुष्य सम्यग्ज्ञान से सुख को प्राप्त होते हैं और रागी मनुष्य कुज्ञान से दुःख को प्राप्त होते हैं। इस तरह शुचिता को प्राप्त करके समीचीन मत में स्पष्ट रूप से कहा गया है।।६५।।

मम सुवित् तनुरद्य मितांजसा, तव नुतेर्लघुना ह्यमिताज सा।
इति समुद्गम एव भृशं गमे, सरिदिवात्र सरित्पतिसंगमे।।

हे अज ! अत्र समुद्गमे गमे एव सरित् (तनुः) (किन्तु) सरित्पतिसंगमे इव मम सुवित् अद्य (एव) मिता तनुः (अस्ति किन्तु) तव नुतेः लघुना अंजसा सा हि अमिता (स्यात्)।

हो आज सीमित भले मम ज्ञान धारा,
होगी असीम तुम आश्रय पा अपारा।
प्रारम्भ में सरित हो पतली भले ही,
पै अन्त में अमित सागर में ढले ही।।६६।।

अर्थ – हे अज ! यद्यपि आज मेरा सम्यग्ज्ञान वास्तव में अल्प और सीमित है तथापि आपके स्तवन से वह शीघ्र ही निश्चयतः अपरिमित हो सकता है। जैसे कि नदी उद्गम स्थान में ही पतली होती है। परन्तु मार्ग में और समुद्र का समागम होने के समय अत्यन्त अपरिमित–सुविस्तृत हो जाती है।।६६।।

विरत ईश ! भवामि न हंसतः, पदयुगादिह तावदहं सतः।
विदमला मम नृत्यति सम्मुखं, सदय!यावदिता विहसन्मुखम्।।

हे सदय ! ईश ! हंसतः सतः पदयुगात् अहम् तावत् विरतः न भवामि यावत् ममसम्मुखं विहसन्मुखं इता विदमला नृत्यति।

लो आपके सुखमयी पदपंकजों में,
श्रद्धासमेत नत हूँ तब लौ विभो मैं।
विज्ञानरूप रमणी मम सामने आ,
ना नाच गान करती जब लौ न नेहा।।६७।।

अर्थ – हे सदय ! ईश ! हे दयालो भगवन्! इस जगत् में मैं आपके विवेकरूप श्रेष्ठ चरण युगल से तब तक विरत–पराङ्मुख नहीं होता हूँ जब तक मेरे सन्मुख प्रसन्नवदना निर्मलचेतना नृत्य करती है।।६७।।

स्तवनतो रसना च शिरोनतेः, पथि पदौ गमनाच्च गुरो न ! ते।
इति समीक्षणतो नयने न! मे, ह्यवयवा विमलाः सुमुने नमे !।।

हे सुमने ! न न ! नमे ! ते स्तवनतः मे रसना (ते) पथिगमनात् पदौ (ते) नतेः शिरः (ते) समीक्षणतः (मे) नयने इति (सर्वे) हि अवयवाः विमलाः (भूताः)।

स्वामी तुम्हें निरख सादर नेत्र दोनों,
आरूढ़ मोक्षपथ हो मम पैर दोनों।
ले ईश नाम रसना, शिर तो नती से,
यों अंग अंग हरषे तुम संगती से।।६८।।

अर्थ–हे सुमने ! हे पूज्य जिनराज ! हे पूज्य गुरुदेव ! हे नमिनाथ भगवन् ! आपके स्तवन से जिह्वा, नमस्कार से मस्तक, मार्ग में गमन करने से पैर और दर्शन से दोनों नेत्र, इस प्रकार मेरे सभी अङ्ग निश्चय से निर्मल हो गये।।६८।।

गुणवतामिति चासि मतोऽक्षरः, किलि तथापि न चित्तवतोऽक्षरः।
नहि जिनाप्यसि तेन विना सितः, स्तुतिरियं च कृतात्र विनाशितः।।

हे जिन (त्वं) अक्षरः असि इति गुणवताम् मतः किल तथापि चित्तवतः अक्षरः (शब्दमयः) न (असि)। (किन्तु) तेन विना (शब्देन विना) (मया) सितः (ज्ञातः) अपि न (असि)। अतः अत्र विनाशितः (शब्दैः) इयम् च (ते) स्तुतिः (मया) कृता।

हो मृत्यु से रहित ''अक्षर'' हो कहाते,
हो शुद्ध जीव ''जड अक्षर'' हो न तातैं।
तो भी तुम्हें न बिन अक्षर जान पाया,
स्वामी अतः स्तवन अक्षर से रचाया।।६९।।

अर्थ – हे जिन ! यद्यपि आप अक्षर – अविनाशी हो ऐसा गुणवानों का मत है तथापि चित्तवान्–आत्मा के अक्षररूपता कैसे हो सकती है? क्योंकि आप सचेतन हैं और अक्षर पौद्गलिक होने से जड़ रूप हैं। आप अक्षररूप नहीं हैं यह ठीक है फिर भी अक्षर के बिना आप ज्ञात नहीं हैं। अर्थात् अक्षरों से ही आपका ज्ञान होता है। अतः इस जगत् में आपकी यह स्तुति मैंने शब्दों से की है।।६९।।